

राम नवमी के जुलूस पर पत्थरबाजी के पीछे कौनसी मानसिकता और क्या है उसका उपचार ?



वह वीडियो कहीं का भी हो। केरल का या बंगाल का या मध्यप्रदेश के खरगोन का, जहाँ मुस्लिम गली-मोहल्लों से रामनवमी की शोभायात्रा का स्वागत पत्थरों और पेट्रोल से भरी बोतलों के परंपरागत ढंग से किया गया। वह वीडियो लोहे के दो दरवाजों के भीतर से किसी ने मोबाइल पर बनाया है। इन मजबूत जालीदार दरवाजों के बाहर कुछ नौजवान पत्थर बरसा रहे हैं। गालियाँ दे रहे हैं। भीतर घुसने की घात में हैं।

भीतर कोई हिंदू परिवार है, जिसका कोई सदस्य यह वीडियो बना रहा है। कहने की जरूरत नहीं कि बाहर वे नौजवान जिहादी जुनून से सराबोर मुसलमान हैं। गुजरात से लेकर मध्यप्रदेश तक कई जगह शोभायात्राओं पर पथराव हुए हैं। हैरत की बात है कि उत्तरप्रदेश में किसी ने उफ़ तक नहीं किया। वह वीडियो उस घर के द्वार पर 1990 के कश्मीर की दस्तक है।

सँकरी गलियों से पत्थरबाजों की भीड़ अनगिनत बार उबलकर निकलती देखी गई है। जुमे के दिन खास करंट देखा गया है। आखिर वे लोग कौन हैं, जो अचानक ही पत्थर और पेट्रोल बम या तमंचे लिए सड़कों पर दौड़े आते हैं। चुनकर घरों को निशाना बनाते हैं। लूट और कत्ल में ऐसे उतर आते हैं, जैसे पेट से यही सीखकर आए हों।

यह भीड़ आती कहाँ से है? कौन लोग होते हैं ये? वे बाकी समय कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं और अचानक किसके हुकम से एक वहशी भीड़ में बदल जाते हैं, हर कहीं एक जैसे तरीकों से? मैंने कोरोना काल की प्रकाशित डायरी 'उफ़ ये मौलाना' के एक अध्याय में कुछ जरूरी बिंदुओं की तरफ सरकार का ध्यान दिलाया था। उसके संपादित अंश यहां दे रहा हूँ, कृपया अपने जोखिम पर गौर करें।

कोरोना ने भारत में अब तक हुए किसी भी हिंदू-मुस्लिम दंगों की तुलना में ज्यादा बेहतर ढंग से देश को दिखाया कि ज्यादातर मुस्लिम आबादी किस तरह के नर्क में पड़ी है। वह सघन रूप से बेहद तंग गलियों में रहती है, जहाँ आपात स्थिति में एंबुलेंस या फायर बिग्रेड घुस भी नहीं सकते।

यह बाकी शहर के बाशिंदों से बिल्कुल अलग-थलग एक अजीब दुनिया है, जिसके बारे में हर जगह डराने के अंदाज में ही कहा जाता है कि कोई गैर मुस्लिम इन इलाकों में जा नहीं सकता। साफ शब्दों में इन्हें मिनी पाकिस्तान ही कहा जाता है। यह स्थिति एक ऐसे समाज के लिए बेहद शर्मनाक और

चिंताजनक है, जिसने 70 साल तक सेक्युलर राजनीतिक दलों को एकतरफा ताकत दी।

समय आ गया है कि मुंबई से मुरादाबाद और जयपुर से इंदौर तक मुस्लिम बस्तियों के अंदरूनी इलाकों में सब तरह के अतिक्रमण हटाकर सड़कें चौड़ी की जानी चाहिए। बाकी शहर के साथ इन सघन इलाकों की बेहतर कनेक्टिविटी की जानी चाहिए।

सघन मुस्लिम बस्तियों में अत्याधुनिक सीसीटीवी और ड्रोन कैमरों से हिफाजत के स्थाई इंतजाम किए जाएँ ताकि बाहरी तत्वों पर सख्त निगरानी रखी जा सके। इन बस्तियों में नई-पीढ़ी के पढ़े-लिखे मुस्लिमों की कमेटियाँ बनाई जाएँ, जिनके जरिए उनकी समस्याओं पर प्रशासन नियमित बात करे।

किसी भी तरह की आपराधिक या आतंकी गतिविधि या ऐसी किसी भी वारदात की तैयारी की जानकारी के लिए खुफिया तंत्र और मजबूत किया जाए। अगर सरकार ऐसा कुछ करती है तो यह तय है कि सेक्युलर ढांचे में रहे लोग इसका विरोध करेंगे और कभी सरकार बदलने पर यह सब खत्म कर दिया जाएगा। लेकिन ऐसा करना समय की तत्काल जरूरत है।

मस्जिदों-मदरसों और मजारों के फैलाव हर शहर में हैरतअंगेज रफ्तार पर तेज हैं। मैं भारत भर में लगातार घूमा हूँ और इन यात्राओं में मैंने यूपी, बिहार और बंगाल के मुस्लिम आबादी बहुल इलाकों के दौरे किए। मैंने पाया कि बेहद पिछड़े और गरीब मुसलमानों के इलाकों में भी आलीशान इमारतें सिर्फ मदरसों, मस्जिदों और मजारों की हैं।

कई मदरसों में दो हजार बच्चे दूसरे राज्यों के हैं। हर जिले और ब्लॉक में यह बहुत मजबूत इन्फ्रास्ट्रक्चर है, जो मजहब के नाम पर जुटाया गया है। मजे की बात है कि इन्हीं इलाकों के लोग अपनी बदहाली के लिए सिर्फ सरकारों को कुसूरवार मानते हैं।

यानी वे अपनी आर्थिक सामर्थ्य की पाई-पाई से मस्जिद और मदरसों की बहार ला रहे हैं और स्कूल, कॉलेज और रोजगार के ट्रेनिंग संस्थानों के लिए सरकारों को गालियाँ देते हैं। वे इस दुनिया से बिल्कुल ही अलग अपनी काल्पनिक दुनिया में हैं, जो उन्हें कभी बेहतर जिंदगी नहीं दे पाएगी। इस इन्फ्रास्ट्रक्चर को आधुनिक अस्पताल, स्कूल, कॉलेज और स्वरोजगार के ट्रेनिंग संस्थानों में बदल देना चाहिए, जिसकी कमान मुस्लिम समाज के ही हाथ में हो।

एक साल पहले दिल्ली के सांसद प्रवेश शर्मा ने दिल्ली संसदीय क्षेत्र की एक केस स्टडी में चौंकाने वाले आँकड़े और जमीनी हकीकत उजागर की थी। मुस्लिम समाज के कुछ लोग पार्कों, तालाबों, सरकारी जमीनों पर लगातार कब्जे करते हुए पाए गए।

हर इलाके में नई मस्जिदें बन रही हैं। पुरानी मस्जिदें बढ़ रही हैं। कब्रिस्तानों को फैलाया जा रहा है। क्यों? मदरसे अपने विस्तार में लगे हैं। आखिर मकसद क्या है? कौन यह सब कर रहा है? कौन पैसा दे रहा है? इसी पैसे से वे नर्क में जी रही अपनी आबादी को बेहतर जिंदगी देना क्यों नहीं चाहते?

इस्लाम के कुछ तबकों की इस घातक रूप से विस्तारवादी प्रवृत्ति पर बहुत सख्ती से अंकुश जरूरी हो गया है। मस्जिदों समेत सभी धार्मिक स्थलों पर लाउडस्पीकर भी उतारे जाएँ। यह दूसरों के लिए

असहनीय ध्वनि प्रदूषण ही है। एक अच्छी खासी कौम सिर्फ गलत हाथों में पड़कर इस दुर्दशा को प्राप्त हो चुकी है।

कट्टर मान्यताओं के बंद दिमागों में मजहब को दमघोंटू बना दिया गया है। दुनिया हर कहीं उन्हें शक की नजर से देख रही है। शाहीनबाग के बाद कोरोना ने और अधिक स्पष्टता से देश को बता दिया है कि मौलवी और इमामों के माइंड-सेट पढ़ना बेहद जरूरी है।

वे इस्लाम की गलत व्याख्या करके करोड़ों मुसलमानों को दुनिया की वास्तविक सचाइयों से दूर अशिक्षा के अंधेरे में डाले हुए हैं, जो उनके अपने परिवारों और समाज के लिए तो नुकसानदेह है ही, लेकिन एक देश के रूप में यह भारत के लिए भी बहुत महंगा साबित हो रहा है। कोरोना से संघर्ष के समानांतर हमारी सरकारों को हर कहीं इनसे जूझना पड़ा।

इसमें बेहिसाब धन और समय लगा। कोरोना की आफत आने के शुरुआती हफ्तों में उनका रवैया बिल्कुल सरकार विरोधी बना रहा। वे अपनी जिद पर अड़े मस्जिदों में भीड़ लगाकर नमाज पढ़ने के लिए आम गरीब मुसलमानों को भड़काते रहे। एक माह बीतने पर भी वे पत्थर फेंक रहे थे और इलाज कराने से भाग रहे थे। इन पर पैनी नजर होनी ही चाहिए। इसलिए इनसे व्यापक संवाद जरूरी है।

यह पढ़ना जरूरी है कि उनके दिमागों में क्या चलता है? वे भारत के निर्माण में खुद को किस भूमिका में देखते हैं? अगर सिर्फ इस्लाम की शान में अपने ही ढंग से लगे रहना उनके पैदा होने का एकमात्र मकसद है तो यह भारत के लिए विचारणीय है। इसमें देरी घातक दुष्प्रभावों को बढ़ाने वाली ही होगी।

हज की सब्सिडी की तरह इमामों-मुअज्जिनों को दिए जाने वाले सब तरह के मानदेय बंद होने चाहिए। यह मुस्लिम समाज पर छोड़ा जाए कि वे उन्हें उनकी मजहबी सेवाओं के बदले क्या और कितना देते हैं।

यह सरकारों का काम नहीं कि जनता के टैक्स के पैसे से उनके पेट भरे जाएँ, जो देश में कोरोना जैसी संकट की सबसे बड़ी परीक्षा की घड़ी में सरकारों को नाकाम करने के लिए किसी भी हद तक जाने की हिमाकत करें और दूसरे शहरियों की जान आफत में डालें।

यह शिक्षा की कमी की वजह से कतई नहीं है। यह सब सोची-समझी रणनीति के तहत है। क्या दारुल-उलूम फतवा देगा कि इस्लाम में इमामों और मुअज्जिनों समेत किसी भी आम मुसलमान को मिलने वाली ऐसी सरकारी खैरात हराम है?

उनके दर्शन में अगर यह दारुल-हरब है, एक कम्बख्त काफिर देश है और यहाँ सब तरफ काफिरों की हुकूमत है, कुफ्र फैला हुआ है तो इन बेगैरत और बेहया काफिरों के हाथों से मदद के नाम पर मिलने वाली खैरात किस आयत और हदीस के मुताबिक हलाल है? कृपापूर्वक वे मुसलमानों को गुनाह में गिरने से बचाएँ। आखिरत के दिन उन्हें अल्लाह के सामने अपने हिसाब भी देने होंगे। ऐसा कोई काम न हो पाए, जिससे किसी को भी जन्नत की रंगिनियों से वंचित होना पड़े।

शादियों-निकाहों में मुफ्त के हजारों रुपए देने, फिर प्रसव और नसबंदी के नाम पर हजारों रुपयों की मदद फिजूल है। इसकी बजाए बेटियों की आधुनिक और ऊँची शिक्षा में मदद करना ज्यादा बड़ा काम

होगा। तब वे अपने परिवारों को खुद संभालने लायक बन पाएँगी।

यह हिंदुओं और मुसलमानों सब पर लागू होना चाहिए। शादी, सुहागरात, बच्चे, बच्चों की परवरिश, परिवारों को राशन, बीमारों को इलाज और कम्बख्त मरने के बाद कब्रिस्तानों की रखवाली के काम दुनिया में किस देश की सरकारें संभाल रही हैं? ये नीतियाँ अपने मूल में ही गलत हैं। इन पर समाज में व्यापक बहस की जरूरत है।

सरकार सोच-समझकर समीक्षा करे और फैसले ले। एक बेटी को ऊँची तालीम दिलवाकर अपने पैरों पर खड़ा कर देना ही काफी है। वह राशन भी जुटाने लायक हो जाएगी, इलाज भी करवा लेगी, अपने बच्चों की बेहतर परवरिश और जिंदगी भी दे पाएगी। यह वन टाइम हेल्प की तरह होना चाहिए, न कि पूरे समाज को अपाहिज बनाकर उसे टेककर चलने के लिए लाठियाँ वितरण समारोह के आयोजन की तरह।

आरिफ मोहम्मद खान ने 2019 के लोकसभा चुनाव के पहले मुस्लिम मामलों की सेक्युलर पैरोकार आरफा शेरवानी को एक इंटरव्यू में देवबंद के पाठ्यक्रमों पर सवाल खड़े किए थे। इस्लामिक संस्थानों के कोर्स की पड़ताल सबसे जरूरी है।

आखिरकार जाकिर नाइक सालों तक इस्लामिक टीचिंग ही कर रहा था लेकिन आतंकियों का प्रेरणापुरुष पाया गया तो दुकान बंद करानी पड़ी। कौन जानता है कि मौजूदा मदरसों और दीगर इस्लामिक संस्थानों में क्या पढ़ाया जा रहा है? इस पर दानिशमंद मुसलमानों का ही एक बोर्ड बनाया जाए, जिसमें सरकारी नुमाइंदे भी शामिल हों।

वे गौर करें कि सब कुछ ठीक है या नहीं। हो सकता है आरिफ मोहम्मद खान ने देवबंद के पाठ्यक्रमों के आपत्तिजनक हिस्सों पर कोई रिपोर्ट सरकार को दी हो। न दी हो तो उन्हीं को इस काम की ओनरशिप दी जा सकती है।

अल्पसंख्यक कौन हैं, इसकी परिभाषा न्याय और तर्क की कसौटी पर तय होनी चाहिए। कितनी आबादी पर किस समुदाय को कब तक इस श्रेणी में रखा जाए और कब कहाँ उसे इससे मुक्त किया जाए, इसके स्पष्ट मापदंड बनने चाहिए। एकमुश्त 15-20 करोड़ की आबादी अकेली अल्पसंख्यक का पर्याय कैसे बनी रह सकती है?

देखा जाए तो भारत में अकेले पारसी ही एकमात्र हैं, जो अल्पसंख्यक होने की सच्ची पात्रता रखते हैं। लेकिन मजा देखिए कि वे किसी सरकार के रहमो-करम के कभी मोहताज नहीं रहे। उन्हें न टिकट चाहिए, न कोई रियायत चाहिए, मुफ्त में कुछ नहीं चाहिए और अल्पसंख्यकों के पर्याय जो हैं, उन्हें सब चाहिए और फिर भी वे हमेशा नाखुश हैं।

कश्मीर घाटी से जब पंडितों को बाहर निकाल दिया गया तो वहाँ अल्पसंख्यक किसे माना जाएगा? लेकिन घाटी में एकछत्र मौजूदगी के बावजूद मुसलमान अल्पसंख्यक कहलाते रहेंगे, यह सेक्युलर राजनीति का बेहूदा मजाक है। किस बुनियाद पर अल्पसंख्यक आयोग और अल्पसंख्यकों के नाम पर तमाम स्कीमें चलाई जाती रही हैं? अल्पसंख्यक आबादी को निर्धारित करने मापदंड अगर नहीं हैं तो

यह शब्द ही प्रचलन से बाहर होना चाहिए।

दुनिया के कई देश अपने कटु अनुभवों के आधार पर अपनी मुस्लिम आबादी को मुख्यधारा में लाने के लिए कई जरूरी कदम उठा रहे हैं, जो समय की जरूरत भी है। जैसे-मजहबी पहचान। बुर्का और टोपी पर बंदिश। भारत को आगे-पीछे इस तरफ फैसला करना ही होगा कि हम इस दिशा में क्या करें।

श्रीलंका में चर्च के धमाकों ने उसे फौरन सिखा दिया कि ये मजहबी पहचानें घर के भीतर होनी चाहिए। मुस्लिम देश तुर्की में तो सौ साल पहले कमाल पाशा ने क्रांतिकारी कदम उठाए और एक आधुनिक इस्लाम का साफ-सुथरा विकल्प पेश किया।

एक देश में एक समान कानून क्यों नहीं होना चाहिए? कॉमन सिविल कोड बीजेपी का एजेंडा भी रहा है। मंदिर और कश्मीर के मूल मुद्दों का निपटारा हो चुका है। समान नागरिक संहिता तीसरा मुद्दा था, जिस पर सरकार को इसी कार्यकाल में निर्णय करना चाहिए।

अल्पसंख्यकों के नाम पर अलगाववाद की वैचारिक खरपतवार एकाध पीढ़ी में खुद ब खुद सूख जाएगी और मुसलमानों को भी एक बराबरी के सभ्य समाज में खुद को ढलने का अवसर मिलेगा।

अल्पसंख्यक को मुसलमानों का पर्याय बनाना एक बहुत बड़ी गलती थी। एक अक्षम्य भूल। मुसलमान अकेले अल्पसंख्यक नहीं हैं। लेकिन सेक्युलर सियासी नेता कभी बौद्ध, जैन या पारसी समाज के तीज-त्यौहारों में नजर नहीं आए। रोजा-इफ्तारी को जरूर राष्ट्रीय महापर्व बना दिया गया।

सत्ता से खदेड़े जाकर इसका खामियाजा वे भुगत रहे हैं। उनकी निगाह में सारे धार्मिक समूह बराबर होने चाहिए थे। सबकी भलाई के समान प्रयास नजर आने चाहिए थे। उन्हें या तो किसी के धार्मिक जलसों में नहीं जाना चाहिए था या सबके यहां जाना चाहिए था। सेक्युलर पार्टियों को बहुसंख्यक समाज से अपने किए की माफी माँगना चाहिए। यह देश उदार लोगों का है, जिनके लिए भावनाएँ प्रधान हैं।

साभार <https://dopolitics.in/से>